

बौद्धकालीन भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था एवं विभिन्न वर्णों की स्थिति

Shveta Kumari^{1*} Dr. Ramakant Sharma²

¹ Research Scholar

² Research Supervisor, Sunrise University, Alwar, Rajasthan

सारांश:- ई.पू. छठी शताब्दी का काल भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए धार्मिक क्रान्ति का काल था। भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय समाज अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक संक्रान्ति से गुजर रहा था। यह एक संघर्ष काल था। इसी पृष्ठ भूमि में बौद्ध सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मण-क्षत्रिय में, राजतंत्र एवं गणतंत्र में, आर्यों तथा आर्येतर जातियों के बीच फैले संघर्ष ने धार्मिक क्रान्ति को अवश्यम्भावी बना दिया। उत्तर वेद कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने इस क्रान्ति के लिए उपयुक्त भूमि बनाई। जाति प्रथा की कठोरता, कर्मकाण्डों की बहुलता, हिंसामय यज्ञों की बाढ़, बहुदेववादजन्य पारस्परिक वैमनस्य, विविध धार्मिक आडम्बर आदि इस क्रान्ति के प्रमुख कारण थे।

शब्द संकेत:- बौद्धकालीन समाज, वर्ण व्यवस्था एवं विभिन्न वर्णों की स्थिति

-----X-----

भूमिका:-

ई.पू. छठी शताब्दी का काल भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए धार्मिक क्रान्ति का काल था। भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय समाज अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक संक्रान्ति से गुजर रहा था। यह एक संघर्ष काल था। ब्राह्मण-क्षत्रिय में, राजतंत्र एवं गणतंत्र में, आर्यों तथा आर्येतर जातियों के बीच फैले संघर्ष ने धार्मिक क्रान्ति को अवश्यम्भावी बना दिया। उत्तर वेद कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने इस क्रान्ति के लिए उपयुक्त भूमि बनाई। जाति प्रथा की कठोरता, कर्मकाण्डों की बहुलता, हिंसामय यज्ञों की बाढ़, बहुदेववादजन्य पारस्परिक वैमनस्य, विविध धार्मिक आडम्बर आदि इस क्रान्ति के प्रमुख कारण थे। इसी पृष्ठ भूमि में बौद्ध सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

वर्ण और जाति:-

भारतवर्ष में जातिभेद का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु आरम्भिक युग में यह रूढ़ नहीं था। यहाँ के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में चतुर्वर्ण का उल्लेख तो है, परन्तु उत्तरकालीन जाति व्यवस्था से सर्वथा भिन्न। ऋग्वेदकालीन भारतीय समाज में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का अस्तित्व समाज के

चतुर्वर्ण के सदृश था। व्यक्ति विशेष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने मनोनुकूल वर्ण का सदस्य बन सके। तीनों उच्च वर्णों के बीच स्पष्ट विभाजन भी न था। यदि कोई स्पष्ट विभाजन था भी तो वह आर्य तथा दास-वर्ण अथवा दस्यु के बीच था। परन्तु कालान्तर में जातिभेद-सम्बन्धी मनुष्य की धारणाएँ रूढ़ होती गयीं और पेशे वंशानुगत हो गये। “ब्राह्मण-युग आते-आते मनुष्य के सामाजिक जीवन में जातिभेद-सम्बन्धी धारणाओं की जड़ें इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो गयीं कि देवगण भी चतुर्वर्ण में विभाजित माने जाने लगे।” बुद्ध-युग में जातिभेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। जाति के अनुसार ऊँच-नीच की भावना अति प्रबल हो गयी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनों वर्णों में श्रेष्ठतर कहलाने की होड़-सी थी। बौद्ध साहित्य का अनुशीलन यह बतलाता है कि तत्कालीन जातिवाद के खण्डन में भगवान् बुद्ध को केवल भिक्षु-संघ में सफलता मिली। यह निर्विवाद सत्य है कि बौद्ध-संघ में जातिवाद नाम की कोई वस्तु नहीं थी।

ब्राह्मण की स्थिति

बौद्ध लेखकों ने ब्राह्मणों की नष्ट धर्मावस्था का ही विशेष वर्णन किया है। उनके अनुसार ब्राह्मणों ने अपने प्राचीन आदर्शों का सर्वथा त्याग कर सभी प्रकार के सांसारिक सुख-भोगों में अपने को लिप्त कर रखा था तथा अब्राहमणोचित्त कर्मों, जैसे - अपने शरीर के अंगों को वस्त्राभूषणों तथा आलेपनों द्वारा सुसज्जित करना, सुस्वादु भोजन करना, मद्य पीना, वृहदाकार रथों की सवारी करना, परिचारिकाओं से परिवृत रहना, प्रचुर धन-संग्रह करना, इत्यादि को करने लगे थे। दूसरी ओर ब्राह्मण-रचित धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों के आदर्श चित्रण की प्रमुखता है।

बुद्ध-कालीन समाज का बहुसंख्यक जन-समुदाय उस वेद-विहित लौकिक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था जिसमें वैदिक यज्ञों की प्रधानता थी। परिणामतः तत्कालीन समाज में पुरोहित वर्ग अत्यन्त समादृश हुआ। याजक के रूप में उन्हें गायें, वस्त्राभूषण, शयन-सामग्री आदि अनेकानेक वस्तुएँ दानस्वरूप मिलती रही। उन्हें राजाओं द्वारा भूमिदान भी मिला करता था जिसकी संज्ञा ब्रह्मदेय्य में चम्पा ग्राम मिला, मगधवासी ब्राह्मण कूट-दन्त को बिम्बिसार ने खानुमत नामक ग्राम दिया और इसी प्रकार कोशल-राज ने भी ब्राह्मणों का समादार किया। गौतम बुद्ध ने ब्राह्मणों को श्रेष्ठता को लोकप्रिय भाषा में तो चुनौती दी पर स्वयं इन दोषों से रहित न रह सके जब उन्होंने स्वयं अपने शाक्य वंश एवं क्षत्रिय वर्ण को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया।

क्षत्रिय की स्थिति

ब्राह्मण-रचित ग्रन्थों में ब्राह्मण-वर्ण का स्थान सर्वोपरि है, परन्तु बौद्ध-साहित्य में क्षत्रिय का। वर्णों की सूची में उनका स्थान प्रथम आता है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण अम्बष्ठ से कहा - 'हे अम्बष्ठ स्त्री से स्त्री की तुलना की जाय अथवा पुरुष से पुरुष की, क्षत्रिय ही श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण हीन।' दीर्घ-निकाय एवं अंगुत्तर-निकाय के अनुसार क्षत्रिय अपने जन्मना सर्वाधिक मानते थे। जातक निदानकथा में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने मनुष्ययोनि में जन्म ग्रहण करने के पूर्व विचार किया कि किस कुल में जन्म लेना श्रेयस्कर होगा और सभी वर्णों के गुण-दोषों पर चिन्तन करते हुए वे इस निर्णय पर पहुँचे कि क्षत्रियकुल ही लोकसम्मत है, जिसमें उन्हें जन्म लेना चाहिए। इसी प्रकार की कथा जैन ग्रन्थ कल्प सूत्र में भगवान् महावीर के जन्म के विषय में मिलती है। भगवान् महावीर को देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश करने पर अपनी भूल ज्ञात हुई, तो वे त्रिशला नाम की क्षत्रियाणी के गर्भ में प्रविष्ट हो गये। सोनक-जातक में राजा अरिन्दम अपनी जन्मना श्रेष्ठता की तुलना पुरोहित-पुत्र सोनक से करते हुए कहते हैं- 'यह ब्राह्मण तो हीनजन्मा है, और मैं हूँ क्षत्रिय कुलोत्पन्न।' इसी कारण बौद्ध एवं ब्राह्मण-रचित ग्रन्थों में

समान रूप से राजा को मनुष्यों में श्रेष्ठतम कहा गया है। ब्राह्मण अपने तप एवं ज्ञान के बल पर समाज में पूजित हुए परन्तु क्षत्रिय भी इन्हीं गुणों से समन्वित थे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों ही अभिजात वर्ग के सदस्य थे और उनकी संतान को जानार्जन के समान अवसर मिले। ब्राह्मण कुमार तथा क्षत्रिय कुमार के एक ही गुरु से विद्यादान प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं, अतः क्षत्रियों ने यह स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण उनसे विद्वता में श्रेष्ठ हैं। उपनिषद् काल में क्षत्रियों ने यह भी निदर्शित कर दिया कि उनका तत्त्व-ज्ञान ब्राह्मणो तुल्य ही नहीं, अपितु उनसे बढ़कर है। बुद्ध-युग में नवीन धार्मिक चेतना के जन्मदाता बुद्ध को जन्म देने के कारण इस जाति के सदस्यों में गर्व का होना भी स्वाभाविक ही था। यदि बौद्ध शास्त्रकारों ने क्षत्रिय वर्ण को भी सभी वर्णों से ऊपर स्थान दिया, तो कोई अस्वाभाविक कार्य नहीं किये। पालि-त्रिपिटक से ज्ञात होता है कि राजमन्त्री, सेनानायक, प्रशासकीय उच्च पदाधिकारी तथा सामन्त प्रायः क्षत्रिय ही हुआ करते थे, केवल मंत्रिपद में अधिकतर ब्राह्मणों को नियुक्त किया गया। क्षत्रिय जाति प्रमुखतः युद्धजीवी थी, परन्तु आर्थिक परिस्थिति वर्ष ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों को भी अनेक प्रकार के कर्मक्षेत्रों में प्रवेश करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

वैश्य की स्थिति

पालि-त्रिपिटक में वैश्य वर्ण के लिए वेस्स, गृहपति, सेट्ठि, कुटुम्बिक इत्यादि संज्ञाएँ प्रयुक्त की गयी हैं। गृहपति (गृहपति) शब्द से सामान्यतया किसी भी वर्ण के सदस्य का बोध होता है, परन्तु बौद्ध लेखकों ने जिस संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया है उससे वैश्य जाति का ही बोध होता है। फिक महोदय का यह तर्क सबल नहीं है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी गृहपति कहलाते थे अतः इस शब्द से वैश्य जाति का बोध नहीं होता। पालि-साहित्य में जहाँ भी गृहपति शब्द का प्रयोग ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय गृहस्वामी के लिए हुआ, वहाँ स्पष्ट रूप में ब्राह्मण-गृहपति या क्षत्रिय-गृहपति शब्द आये हैं और वैश्य के अर्थ में मात्र गृहपति शब्द प्रयुक्त हुआ है। वैश्य-कुल को गृहपति-कुल कहा गया। जातियों की सूची में भी गृहपति शब्द ब्राह्मण-क्षत्रिय के पश्चात् और शूद्र के पूर्व आता है। सेट्ठि उन वैश्यों को कहा जाता था जो वैश्य-वर्ग के अभिजात एवं सर्वाधिक धनाढ्य सदस्य थे। सेट्ठियों को वैश्य जाति के अंतर्गत ही नहीं, वरन् समाज में भी विशेष मान और मर्यादा मिले। सेट्ठिपुत्रों की शिक्षा-दीक्षा क्षत्रिय-ब्राह्मण कुमारों के संग होती थी और इनके विवाह भी संट्ठि-वर्ग के अन्तर्गत हुआ करते थे। अपने धन-वैभव के बल पर इन्होंने समाज में अपने प्रभाव-क्षेत्र को व्यापक बनाया था।

शूद्र की स्थिति

पालि-त्रिपिटक एवं धर्मसूत्रों के अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बौद्ध-युग में अनेक उपजातियों को शूद्र माना गया। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि किन विशिष्ट जातियों को शूद्र कहा जाता था, किन्तु जिस रूप में निम्न जातियों की सामाजिक अवस्था का वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें शूद्र-वर्ण के अन्तर्गत माना जाता था। शूद्र प्रमुखतः सेवक और मजदूर के रूप में कार्य करते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश शूद्रों को कृषि से सम्बद्ध कार्यों में नियुक्त किया जाता था। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र से इस बात का आभास मिलता है कि ऐसे शूद्रों के पास इतनी भू-संपत्ति नहीं रहती थी कि वे राज्य को उसका कर देते। इन्हें भतक और कर्मकर कहा जाता था। जातकों से ज्ञात होता है कि मजदूर (कर्मकर) की मजदूरी प्रतिदिन डेढ़ माशक थी। अनेक शूद्र-जातियाँ ऐसी भी थी जो असंगठित, अव्यवस्थित तथा भ्रमणशील रहती थीं। इनका प्रमुख कर्म था - जनता का मनोरंजन। इस प्रकार की जातियों में नट (नाचने तथा गाने-बजानेवाले), लंघ-नटक (करिश्मा दिखानेवाले), मायाकार, सपेरे (अहिगुण्डिक), नेवला पालनेवाले, गंधर्व (गायक-वादक), भेरी वादन करनेवाले, शंख-वादक, सर्पदंश का विश दूर करनेवाले (विसवेज्जा) आदि का उल्लेख बौद्ध-पिटक में किया गया है। इन घुमक्कड़ों की अपने कर्मों के अनुसार विशिष्ट जातियाँ बन गयीं अतः हमें भेरीवादक-कुल, शंखवादक-कुल, नटक-कुल, गंधर्व-कुल इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार की और भी कई जातियाँ थी परन्तु उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित था। इस वर्ग की जातियों में गोपालक, पशुपालक, तृणहारक (घास काटनेवाले), लकड़हारे, वनकम्मिक (वनों में काम करनेवाले), आराम-गोपक (उपवनों की रखवाली करनेवाली) आदि के उल्लेख मिलते हैं। इन जातियों का सम्बन्ध मुख्यतया ग्रामीण जीवन से था। मज्झिम-निकाय से ज्ञात होता है, शिल्पी जातियों के समान ये जातियाँ भी अलग-अलग ग्रामों में बसने लगीं थीं।

हीन-जातियाँ

पालि-त्रिपिटक में चंडाल (चांडाल), नेसाद (निषाद), पुक्कुस (पौल्कष), वेण तथा रथकार - इन पाँच जातियों को हीन - जाति में परिगणित किया गया है। इन जातियों के सदस्यों को नीचकुलोत्पन्न कहा गया और इनके कर्म भी नीच-सीप्य (शिल्प) में भेद था, परन्तु कालान्तर में दोनों अभिन्न हो गये और उपर्युक्त जातियों के सदस्य हीनकर्मा होने के कारण समाज में तिरस्कृत समझे जाने लगे। वस्तुतः जन्मना तथा कर्मणा ये जातियाँ अधर्म मानी जाने लगीं और उच्च जाति के लोग इनका

अनादर करने लगे। हीन-जातियों में चांडालो की अवस्था सर्वाधिक शोचनीय थी। अभागे चांडालों को समाज में सर्वत्र तिरस्कृत होना पड़ता और बेचारे नगर-सीमा से हटकर अपने घर बनाते। चांडाल अस्पृश्य तो थे ही, जातक कथाओं के अनुसार वे अदर्शनीय भी थे। इस कारण उन्हें नगर-प्रवेश का दुस्साहस नहीं होता था और वे नगर-प्रवेश-द्वार के निकट ही अपनी कला का प्रदर्शन कर जीविकोपार्जन करते थे। श्रृंगाल-जातक में चांडाल की तुलना श्रृंगाल से की गयी है, क्योंकि जिस प्रकार पशुओं में श्रृंगाल है उसी प्रकार मनुष्य-जाति में चांडाल। चांडाल इतने अपवित्र समझे जाते कि उनके स्पर्श से हवा भी दूषित हो जाती।

प्रायः चांडालों को देखने मात्र से आँखों को पता चल जाता था कि वे कौन हैं। चांडाल बालक अथवा बालिकाएँ जब चीथड़ों में लिपटे तथा हाथ में भिक्षा-पात्र लिए हुए नगर में प्रवेश करतीं, तो उन्हें देख कर ही दया आ जाती होगी। चांडाल लोग प्रायः लाल या पीले रंग के कपड़े पहना करते थे। उनके अधोवस्त्र प्रायः जीर्ण रहते और शरीर के ऊपरी भाग का दुपट्टा लाल होता। वे एक कार्यबंधन भी पहना करते थे जिसके ऊपर एक गंदा कपड़ा ओढ़ा जाता। वे अपना सिर भी पीले कपड़े से बाँधा करते। इसमें कोई संदेह नहीं कि चांडाल समाज में तिरस्कृत जाति थी, परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि ज्ञानी पुरुष को चांडालपुत्र होने पर भी समाज में समुचित प्रतिष्ठा मिली। समाज के बुद्धिवादी वर्ग के विचार में ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का क्यों ना हो, समुचित आदर का भागी है।

दास-प्रथा:

पालि-त्रिपिटक तथा समकालीन संस्कृत-साहित्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दासों के क्रय-विक्रय तथा दान सामान्य बातें थीं। राजकुल, धनाढ्य नागरिक परिवार तथा सामान्य ग्रामीण गृह में समान रूप से दास-दासी रखे जाते थे। हमें दास-दासी क्रय-विक्रय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नन्द-जातक में एक सद्धिविहारिक की तुलना शत-मुद्रा-क्रीत दास से की गयी है। दास-दासी क्रय के समान दास-दासी का दान भी समाज में अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा। पालि-त्रिपिटक कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में अनेक प्रकार के दासों का वर्णन उपलब्ध है, जिनसे भारतीय समाज में इस प्रथा के उद्भव एवं विकास के कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है। पालि-त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है और उनकी संख्या अर्थशास्त्र में पाँच तथा मनुस्मृति में सात है। दासों के इस वर्गीकरण के दासों के इस वर्गीकरण के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि

युद्ध, धनाभाव, दुर्भिक्ष तथा ऋण-ग्रस्तता दास-प्रथा के उद्भव के मूल कारण हुए। समाज में दासों के अस्तित्व का सर्वप्रथम कारण हुआ-युद्ध। जब युद्ध में एक पक्ष का विजय और दूसरे का पराभव होता था तो विजयी दल के सैनिक पराजित पक्ष के सैनिकों तथा आक्रांत राज्य के नागरिकों को यथासाध्य बन्दी बनाकर ले जाते थे। वस्तुतः इन युद्धबन्धियों का जीवन विजयी राजा की दया पर निर्भर करता। इन्हें जो जीवनदान मिलता वह अपनी स्वतन्त्रता खोकर, क्योंकि ये विजयी राजा के दास बन कर ही जी पाते थे। इस श्रेणी के दासों को मनु ने ध्वजाहृत की संज्ञा दी है। युद्धबन्धियों में कुछ तो बँच दिये जाने लगे और अन्य दान में दिये जाने लगे। इन दोनों प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है।

विवाह प्रथा:-

हिन्दू समाज में अति प्राचीन काल के विवाह को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा समाजिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना गया है। पालि-त्रिपिटक में बहु-विवाह कि अनेक उदाहरण मिलते हैं। मज्झिम-निकाय के रट्ठपाल-सुत्त की अनेक भार्याओं को उल्लेख किया गया है। अंगुत्तर-निकाय में चार सुन्दरी पत्नियों वाले एक सुखी-सम्पन्न गृहस्थ का वर्णन मिलता है। उपलब्ध प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुपत्नीकता का प्रचलन मुख्यतः समाज के राजन्य वर्ग तथा अभिजात कुलों में ही सीमित रहा। पालि-त्रिपिटक से ज्ञात होता है कि विवाह-सम्बन्ध-निर्धारण में मध्यस्थता तथा पारस्परिक वार्ता का आश्रय लिया जाता था, जिसका उपक्रम होता था वर के अभिभावक द्वारा। इस बात का भी पता चलता है कि विवाह योग्य कन्या के एकाधिक प्रणयी होने पर सफलता उसी को प्राप्त होती थी जिसके पक्ष में कन्या के पिता का निर्णय।

विवाहयोग्य वर

विवाह सम्बन्ध करने के प्रसंग में वर-वधू की उम्र पर विचार करना अनिवार्य माना जाता था। बुद्धकाल-पूर्व के साहित्य में विवाह सम्बन्धी जो प्रसंग उपलब्ध हैं। उनसे स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्रायः पूर्ण यौवन प्राप्त युवकों तथा युवतियों के ही विवाह सम्पन्न हुआ करते थे। लगभग यही स्थिति बुद्धकाल में भी रही। पालि-त्रिपिटक में शोडशी कन्या का विवाह सर्वोत्तम माना गया है। पालि-त्रिपिटक तथा समकालीन धर्मशास्त्र में प्राप्त स्पष्ट प्रमाणों के अनुसार इस युग में सामान्यता कन्या का विवाह रजस्वला होने के पश्चात् तत्काल कर देना श्रेयकर माना जाता था। समाज का बहुमत बाल-विवाह के विपक्ष में था, प्रातयौवना कन्या का विवाह सर्वमान्य था, परन्तु विवाह-प्रथाओं में प्रायः एकरूपता का सदा अभाव रहा है। बुद्धकालीन समाज में भी बेमेल विवाह होते थे।

विवाह प्रकार

हिन्दू-परिवार में ब्रह्म, दैव, आर्श, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच, इन आठ प्रकार के विवाहों के वर्णन किये गये हैं। दूसरी ओर पालि-निकाय में उल्लेख मिलते हैं, केवल ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व तथा राक्षस के। बुद्धकालीन समाज में विवाहों का स्वरूप न्यूनाधिक वही था जो ब्राह्म तथा प्राजापत्य विधियों से वैवाहिक कार्य संपन्न किये जाने वाले आज के हिन्दू विवाह में दिखलायी पड़ता है। उन दिनों भी वर-वधू के अभिभावक अपनी संतान के विवाह-सम्बन्ध निश्चित करते थे, किसी शुभ घड़ी में वैवाहिक धर्म-विधियाँ संपन्न की जाती थीं, निश्चित तिथि को वरपक्ष कन्यागृह पहुँचता और विवाहोपरान्त वर अपनी वधू को यान में आसीन कराकर सदलबल स्वगृह ले जाता। परन्तु विवाह की धर्मविधियों तथा अन्य संबद्ध विषयों में बौद्ध लेखक मौन रह जाते हैं।

पुनर्विवाह तथा विवाह-विच्छेद

प्राचीन भारत के समाज में पुरुष का स्थान नारी से उच्च होने के कारण उसने स्वभावतः पुनर्विवाह के अधिकार का उपभोग किया। पर क्या नारी भी अपने पति के मरणोपरान्त अपना पुनर्विवाह करने में स्वतंत्र करने में स्वतंत्र थी? यह प्रश्न जटिल है और भिन्न-भिन्न काल में विचारकों के मत भी इस विषय में भिन्न रहे। बुद्ध-काल में विधवा-विवाह की मान्यता के सम्बन्ध परस्पर-विरोधी प्रमाण मिलते हैं। इसका कारण समाज के विभिन्न वर्ग में प्रचलित प्रथाओं की असमानता प्रतीत होती है। धर्मशास्त्र में समाज का आदर्श चित्र उपस्थित करने की चेष्टा के कारण विधवा-विवाह का प्रायः निषेध मिलता है, अतः निषेधात्मक व्यवस्था का अर्थ अस्तित्व का अभाव मानना उचित नहीं।

दाम्पत्य-जीवन:- पालि-त्रिपिटक तथा तत्कालीन धर्मशास्त्र से व्यक्त होता है कि बुद्धकालीन समाज में पति-पत्नी का दाम्पत्य-जीवन प्रायः आदर्श एवं आनन्दमय था-पारस्परिक सम्मान तथा प्रगाढ़ प्रेम से पूर्ण। परन्तु जातक कथाओं में दुखी दाम्पत्य जीवन के अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं, जिनका कारण प्रायः स्त्री की दुष्टता बतलाया गया है, परन्तु कुछ में पति की धूर्तता का भी उल्लेख किया गया है। बौद्ध-वाङ्मय में जहाँ स्त्री-पुरुष-दुष्चारित्र्य सम्बन्धी अनेक उदाहरण दिये गये हैं, वहाँ इसके भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि दाम्पत्य-जीवन प्रायः सुखमय था। पति-पत्नी के लिए सर्वोत्तम आदर्श माना गया था - आनन्दमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करना।

खान-पान:-

मनुष्य की भोजन-सम्बन्धी आदतों का निर्माण प्रकृति करती है। जिस क्षेत्र में जो खाद्यान्न प्रकृति मनुष्य को उपलब्ध कराती है, वह उसी को विभिन्न रूप में ग्रहण करता है। पश्चिमोत्तर भारत में जौ और गेहूँ उपजते हैं और ये ही इस क्षेत्र के निवासियों के मुख्य खाद्यान्न हैं। पूर्व और दक्षिण भारत में चावल उपजता है, अतः इन क्षेत्रों के निवासी भात तथा चावल-निर्मित भोज्य पदार्थों को उदरस्थ करते हैं। पालि-त्रिपिटक में मज्झिम देश के जनजीवन का विशेष वर्णन होने के कारण वे अन्न के रूप में धान का अधिक उल्लेख करते हैं। बौद्ध-युग में धान की अनेक जातियों की खेती पूर्व भारत में होती थी। पालि-त्रिपिटक में सालि (शालि), वीहि (वीहि) तथा तंडुल जातियों के धान के उल्लेख किये गये हैं।

मांसाहार

प्रागैतिहासिक युग का मनुष्य मांसाहारी था, और जब सभ्यता का विकास हुआ, तब भी मांस उसका एक मुख्य भोजन बना रहा। वैदिक आर्य मांसाहारी थे। ऋग्वेद में इन्द्र तथा अग्नि का वर्णन पशुमांस-भक्षी के रूप में उपलब्ध होता है। यज्ञाग्नि में अश्व, वृषभ, बैल, गाय, भंड आदि विभिन्न पशुओं की आहुति देने के उल्लेख मिलते हैं। उत्तर वैदिक युग में भी मांसाहार के प्रति लोगों की रुचि में परिवर्तन नहीं दीखता। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार मांस को उन दिनों सर्वोत्तम भोजन माना जाता था और याज्ञवल्क्य मुनि ने मांस भक्षण किया भी।

बुद्ध-युग में भी मांसाहार के प्रचलन में कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं होती। पालि-त्रिपिटक से विदित होता है कि जैनियों तथा बौद्धों के अहिंसावाद के प्रचार के कारण जनता के आहार-सम्बन्धी व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अहिंसावाद के प्रचारक ही निवेदन करने पर मांस-भक्षण कर लेते थे। बौद्ध-भिक्षु भिक्षा में गृहस्थों द्वारा प्रदत्त मांस स्वीकार करते ही थे। महापरिनिब्बान-सुत्त के अनुसार भगवान् बुद्ध ने पावा में चुंद कर्मारपुत्र के घर शूकर-माददव खाया। उनके मुख से यह भी कहलाया गया है कि वस्तुतः मांस खाने में कोई दोष नहीं, दोषी तो वह है जो जीवहिंसा करके मांस खाता है। बौद्धों का यह तर्क हृदयंगम नहीं किया जा सकता, क्योंकि खानेवालों की मुष्टि के लिए ही मांस बनाया जाता है, और यदि मांस खानेवाली ही न हों तो पशु-पक्षी का वध ही क्यों होगा? खाने और मारने वाले दोनों को हत्यापराध का समान भागी मानना चाहिए। वस्तुतः समाज में मांसाहार की लोकप्रियता के कारण बुद्ध ने इसका सर्वथा निषेध नहीं किया। मांसाहार-सम्बन्धी उनका निषेध भिक्षुओं तक ही सीमित रहा और यदि उन्हें भी गृहस्थ भिक्षा में मांस दे देते, तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे।

पालि-निकाय में उपलब्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि मछली का मांस समाज के सभी वर्ग में भक्ष्य माना जाता था। ब्राह्मण तथा अब्राहमण सभी चाव से मछली खाते थे। राजकीय पाकशाली में विभिन्न जातियों की मछलियों का मांस बनता था। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार अन्नप्राशन में षिषु को मछली खिलाना चाहिए। धर्मशास्त्र में भी मछली को भक्ष्य की श्रेणी में स्थान मिला, परन्तु सभी प्रकार की मछलियों के मांस खाने की अनुमति नहीं दी गयी।

सुरापान

मांसाहार के समान सुरापान की प्रथा भी मानव-समाज में अति प्रचीन काल में प्रचलित हुई। ऋग्वेदकालीन समाज में दो प्रकार के मादक पेय-सोम और सुरा बनाये जाते थे। सोम तो अर्पित किया जाता था देवताओं को और उसका पान करते थे पुरोहित, पर सुरा सर्व-साधारण का पेय था। अथर्ववेद में स्वर्ग की कल्पना से प्रतीत होता है कि सुरापान को हेयदृष्टि से नहीं देखा जाता था। अथर्ववेद के अनुसार स्वर्ग एक लोक है। जहाँ घी और शहद की झीलें हैं और जहाँ प्रवाह हैं सुरा-सरिताओं का। ब्राह्मणों में सुरा निर्माण का वर्णन मिलता है। पालि-पिटक, जैसे-आगम तथा तत्कालीन धर्मशास्त्र में उपलब्ध प्रमाणों से विदित होता है कि समाज में मद्यपान का व्यापक प्रचार था। बुद्धयुग के सामाजिक जीवन में कई ऐसे अवसर आते थे जब सुरापान खुलकर होता था। पालि तथा जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि लोग उत्सव के दिन जी भर कर खाते-पीते और आनन्दोल्लास मनाते जिसमें मद्यपान का प्रमुख स्थान होता। एक उत्सव का तो नाम ही सुरानक्षत्र (सुरानक्षत) पड़ गया था जिसकी विशेषताएँ थीं - अनियन्त्रित सुरापान, भोजन तथा नृत्य-संगीत। धर्मशास्त्र में ब्राह्मण के लिए सुरापान का सर्वथा निषेध किया गया, पर क्षत्रिय-वैश्य के लिए नहीं।

वस्त्राभूषण

नगर सभ्यता के उत्कर्ष के युग में नागरिकों के पहनने-ओढ़ने के शौक में पर्याप्त वृद्धि हुई जिसके एकद्विषय व्यवस्था, जैसे - कताई, बुनाई, रंगाई, सिलाई इत्यादि को पनपने के काफी अवसर मिले। पालि-त्रिपिटक तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में इसके उल्लेख मिलते हैं कि कपास, रेशम, क्षौम, ऊन तथा सन के धागों से अनेक प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे। बुनकर (पेसकार, तन्तुवाय), कपड़े बुनने के उपकरण (तन्तभण्ड) और बुनाई के स्थान (तन्तवित्तानम्) के भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। कपड़े बुनने के उद्योग के पनपने के साथ-साथ सीने-पिरोने के व्यवसाय के चमकने के भी प्रमाण

मिलते हैं। बुद्धकालीन समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के धागो से वस्त्र बनते थे और कपड़ों की सिलाई भी होती थी। पालि-त्रिपिटक में स्त्री-पुरुष, राजा-रानी, धनी-मानी नागरिक, साधारण गृहस्थ, ब्राह्मण-श्रमण, भिक्षु-भिक्षुणियाँ आदि के वस्त्राभूषणों के वर्णन मिलते हैं।

विभिन्न परिधान

इस युग के समाज में कपास, रेशम, क्षौम तथा ऊन के विभिन्न आकार-प्रकार के रंग-बिरंगे परिधान धारण करने का काफी प्रचलन हुआ। अब कपड़ों पर कशीदाकारी भी होने लगी और लोग सोने-चाँदी के रत्न-जड़ित आभूषण भी पहनने लगे। महापरिनिर्वाणसूत्र में वर्णन मिलता है कि भगवान बुद्ध वैशाली गये, तो रंग-बिरंगी पोशाक पहन कर वहाँ के नागरिकों ने उनका स्वागत किया। वैशाली-वासियों ने अपने शरीर के वर्णों से मेल खाते हुए वस्त्राभूषण धारण कर रखा था। साँवले रंग वालों ने गहरे नीले रंग का वस्त्राभूषण धारण किया था और गौर वर्ण के लोगों ने हल्के रंग के कपड़े पहने थे। रंगों के मेल पर ध्यान देने में स्त्रियाँ अधिक सहज रहती थी। लोग लकड़ी की पादुकाएँ और बाँस तथा तालपत्र की गनी चप्पलें भी पहना करते थे। शौकीन लोग अपनी पादुकाओं को सोने, चाँदी, स्फटिक, वैडूर्य, काँच, काँसे, रांगे तथा ताँबे के अलंकारों से अलंकृत करते थे।

आभूषण

बौद्ध-पिटक तथा जैन एवं ब्राह्मण सूत्र-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज के स्त्री-पुरुष आभूषण-प्रिय थे। वे अपने शरीरावयवों का कलात्मक आभूषणों से अलंकृत करते थे। दक्ष स्वर्णकार और मणिकार स्वर्ण और रजत के मुक्ता-मणि-जड़ित अलंकारों का निर्माण कर कलाप्रिय नागरिकों के शौक की पूर्ति करते थे। वे अँगूठी (पट्टिका, मुद्रिका), कूडल (वल्लिका), गले कर हार (कायूर या ग्रैवयक), सुवर्णमाला या कंचनमाला, कर्णफूल (पामड्ग), कंगण (आवेत्तिका), चूड़ी (हत्थरण), मेखला इत्यादि अनेक प्रकार के आभूषण बनाते थे जिनका तत्कालीन समाज में प्रचलन था। सोने तथा चाँदी के अतिरिक्त मुक्ता, मणि, वैडूर्य, भद्रक, शंख, शिला, प्रवाल, लोहितक तथा मसारगल्ल का भी उपयोग आभूषण-निर्माण के लिए किया जाता था। मणियों को प्रायः सोने-चाँदी के गहनों में जड़ा जाता था।

लोक-महोत्सव

अति प्राचीन युग से मनुष्य के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में विभिन्न उत्सवों का बड़ा महत्त्व रहा है। भारतीय साहित्य में वैदिक युग से ही उत्सवों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। वैदिक-वाङ्मय में उपलब्ध सामग्री से विदित होता है कि भारतीय आर्य

बड़े उत्सव-प्रेमी थे और वे समय-समय पर आनन्द मनाने के लिए उत्सव-समारोहों का आयोजन किया करते थे। कार्लिगधिपति खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने सफल विजय अभियान के उपलक्ष्य में कर्लिगवासियों के रंजनार्थ एक महोत्सव का आयोजन किया जिसमें मल्लयुद्ध, वादन, गायन तथा नृत्यादि के प्रदर्शन किये गये।

कौमुदी-महोत्सव

अधिकांश हिन्दू-पर्व ऋतु से सम्बद्ध हैं- बसन्त, वर्षा और शीत से तीन प्रमुख पर्वों का उद्भव जिन्हें चार्तुमास्य कहा गया। वसन्त, वर्षा और शरद ऋतुओं का आगमन कृषि-प्रधान भारतीय आर्य-जाति के लिए नयी आशा, उमंग एवं सक्रियता का प्रतीक बन गया। पालि-निकाय में इस पर्व की संज्ञा मिलती है - कौमुदी अथवा कत्तिका। शरद-पूर्णिमा की चाँदनी किसके हृदय में आनन्द का संचार नहीं करती? दीर्घ-निकाय से ज्ञात होता है कि मगधराज अजातशत्रु शरद-पूर्णिमा का शोभा का अवलोकन कर उमंग का अनुभव करते थे। कौमुदी की रात्रि को वे राजातात्यों से घिरे, उत्तम प्रासादिका चाँदनी रात है।' कौमुदी-महोत्सव का रूप भी मेला जैसा हो गया था और इसे लोग सात दिनों तक आनन्दोल्लास के साथ मनाया करते थे।

शाल-मजिका

पालि निकाय के अनुसार लोग निश्चित तिथि को शालवन में जाते और शाल-पुष्प तोड़कर तथा अन्य क्रीड़ाओं द्वारा खुशियाँ मनाते। इस उत्सव का नाम पड़ा - शालमजिका, जिसका शाब्दिक अर्थ है शाल-पुष्पों को तोड़ना। पाणिनि के अनुसार यह उत्सव प्राच्य-भारत में प्रचलित हुआ। जातक निदान-कथा में शाल-मजिका का इस प्रकार वर्णन किया गया है - 'कपिलवस्तु और देवदह के मध्य एक पवित्र शालवन है जिसपर दोनों नगरों का अधिकार है। उसे लुम्बिनीवन कहते हैं। उस समय सभी शाल-वृक्ष नीचे से ऊपर तक पूर्ण-विकसित पुष्पों से लदे थे। शाल-वृक्ष की शाखाओं में भ्रमर गुंजन कर रहे थे, विभिन्न प्रकार के पक्षी मधुर कूजन करते हुए फुदक रहे थे।

सुरानक्षत्र

अनेक जातक कथाओं में सुरानक्षत्र नाम के एक उत्सव का वर्णन मिलता है। सुरानक्षत्र के दिन स्त्री-पुरुष सभी जी भर कर मद्यपान करते और नाचते-गाते। अनियन्त्रित मद्यपान के कारण ही इस उत्सव का ऐसा नाम पड़ा। एक जातक ने सुरानक्षत्र का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है - 'एक बार राजगृह में सुरानक्षत्र मनाया गया। उल्लेख मिलता है कि एक बार अनेक तापस वाराणसी के राजोद्यान में ठहरे। उस दिन नगर

में सुराक्षत्र का उत्सव मनाया जा रहा था अतः काशिराज ने उनके लिए उत्तम मद्य भेजा। तपस्वियों ने मद्यपान किया और वे मदोन्मत्त होकर नाचना-गाना आरम्भ कर दिया।

हस्तिमंगल

हस्तिमंगल (हत्थिमंगल) समारोह राजप्रसाद के प्रांगण में मनाया जाता था, अतः यह राजवैभव का द्योतक है। इससे प्रमुखतः समाज के अभिजातवर्ग का मनोविनोद होता। यह समारोह वस्तुतः हाथियों की शोभा-यात्रा अथवा उनका व्यायाम था। सुजीम-जातक में हस्तिमंगल का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार इसे प्रतिवर्ष राजांगण में मनाया जाता था।

कर्षणोत्सव

काम-जातक में कर्षणोत्सव का उल्लेख मिलता है। वर्षाकाल के प्रारम्भ में पृथ्वी के विशेष पूजा करके हल चलाने का आरम्भ करना श्रेयस्कर माना जाता था। हल चलाने के पूर्व खेत के पूर्वी छोर पर द्यावापृथ्वी को बलि देनी चाहिए। पश्चात् ब्राह्मण वैदिक मंचाचचार के साथ हल का स्पर्श करे, तदन्तर विभिन्न दिशाओं की पूजा की जाय। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार पृथ्वी सीता है, इन्द्रपत्नी है, अतः सीता की पूजा होती थी और लोग वर्षा के लिए इन्द्र का आह्वान करते थे। इस प्रकार पालि-निकाय तथा समकालीन धर्मशास्त्र में उपलब्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में वर्षा के आरम्भ में कृषिकार्य को सोत्सव श्रीगणेश करने की प्रथा प्रचलित थी।

नगर एवं प्रासाद

तत्कालीन मनोरम एवं वैभवशाली नगर और प्रासादों का निर्माण यह स्पष्ट करता है कि उस काल में स्थापत्य का समुचित विकास हो चुका था। ये नगरियाँ ऊँचे-ऊँचे प्रकारों (चहारदीवारियों) से घिरी रहती थी। एक बार भद्रकर नगर में भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ अपार जन-काय एक साथ ही निकलने लगा, जिससे अपार भीड़ हो जाने से उन के जाने में असुविधा होने लगी। फलतः वज्रपाणि पक्ष द्वारा वज्र फेंक कर भग्न कर दिये जाने की चर्चा है, जिस से कई सौ हजार प्राणी एक साथ ही निकल गये। नगरों में प्रविष्ट होने के लिए कई द्वार होते थे, जिनमें से एक मूल द्वार होता था। सूर्यारक नगर में अठारह द्वारों के होने का उल्लेख है। साधारणतः चार द्वार होते थे, जो उच्च तोरण, गवाक्ष, वातायन, तथा वेदिकाओं से मंडित रहते थे। नगरों में उद्यान, प्रस्रवण, तडाग एवं कूपों का निर्माण देखने को प्राप्त होता है। उद्यान में अनेकों प्रकार के वृक्ष लगाये जाते थे और नाना प्रकार के पक्षि-गण कूजन किया करते थे। ताल, तमाल, कर्णिकार, अशोक, तिलक, पुनांग,

नागकेसर, चंपक, बकुल, पाटलादि पुष्पों से आच्छादित एवं कलविक, शुक, शारिका, कोकिल, मयूर, जीवजीवक आदि नानाविध, पक्षि-गण, निकूजित, भद्रशिला का वनशण्डोद्यान हठात् चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

निष्कर्ष:-

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बुद्धकालीन भारत का समाज कई जातियों, उपजातियों में विभक्त था। सभी वर्णों का कार्य और अधिकार सीमित थे तथा सामाजिक जीवन उच्च कोटि का था। उस समाज के लोगो का खान पान, रहन सहन, पहनावा, मनोरंजन के साधन, विवाह प्रथा, महोत्सव आदि के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय समाज अत्यन्त खुशाहाल था।

सन्दर्भ:-

1. मित्र, वेद, (1964): एजुकेशन इन एनसीएण्ट इण्डिया, आर्य बुक डिपो; नयी दिल्ली
2. मुखोपाध्याय, मर्मर (2002): शिक्षा में सम्पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्धन, नीपा; नई दिल्ली
3. पाण्डेय राम शकल (2005): भारतीय शिक्षा की रूपरेखा, विनोद पुस्तक मन्दिर; आगरा
4. दामोदरन, के (1979): भारतीय चिन्तन परम्परा; पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लिमिटेड; नई दिल्ली
5. शर्मा, डॉ. शंकर दयाल (2008): शिक्षा-दिशा और दृष्टि कोण, प्रवीण प्रकाशन; नई दिल्ली
6. गुप्त, नथू लाल: महाभारत कालीन समाज और शिक्षा, नमन प्रकाशन; नई दिल्ली

Corresponding Author

Shveta Kumari*

Research Scholar